सत्यांश

'युगसेतु' का यह दूसरे वर्ष का पहला अंक है। पत्रिका का प्रवेशांक 'सत्य' पर आधारित था, जो दूसरे वर्ष में प्रवेश के साथ 'धर्म' तक पहुँच गया है। यद्यपि यह यात्रा केवल एक साल की है, जिसे बड़ी नहीं तो छोटी भी नहीं कहा जाएगा। छोटी इस रूप में नहीं कि एक साल तक बिना पत्रकारिता के मूल्यों से वाजिब-गैरवाजिब समझौता किए यह नियमित रूप से निकल रही है, बल्कि इस अर्थ में कि तेरह महीने में बहुत सारी काम की बातें आ सकी हैं जो निस्संदेह श्रीकृष्ण के शब्दों में 'सर्वारम्भा हि दोषेण' की तरह पूर्णतः दोषरहित तो नहीं रह सकी हैं, परंतु प्रचलित साहित्यिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक दोष-जालों से इसे यथासंभव मुक्त रखने का अवश्य प्रयास किया गया है। यह तो विदित है कि लम्बे समय तक वचन का संयम और सार्थक एवं नई बात कहना दुष्कर होता है। ऐसा हमारा ही नहीं, पहुँचे हुए मनीषियों का भी बहुत पहले से विचार है, 'अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहुभाषितुम।' फिर यदि लेखन का मूलाधार 'सत्य' है, तो चाहे मुद्रित पत्रकारिता हो या साहित्य, उसका स्थायी व दीर्घकालिक प्रभाव उत्पन्न होता है। अल्पकालिक उपलब्धि को दीघकालिक स्थायित्व प्रदान करने के लिए भावों-विचारों-कार्यों के दुहराव से बचना होता है, जबकि असत्य के प्रभाव को प्रभावी बनाने के लिए सदैव कुप्रचारों-कुप्रसारों का सहारा लेना पड़ता है। सच्चाई का बार-बार प्रचार उसको सत्त्वहीन कर डालते हैं; एकरसता ही नहीं, उसमें ऊब होने लगती है। कार्यों में उत्साह बना रहे, आनंद सृजित होता रहे, इसके लिए कार्यकाल तय करना होता है। यह क्षण से लेकर युगों तक और व्यक्ति से लेकर ब्रह्माण्ड तक के लिए निश्चित नियम है।

चूँकि अधिक समय तक महत्त्वपूर्ण बात कहना और करना मुश्किल है, अतः यह भी कहा गया है कि सौ बार बोलो, पर लिखो मत- 'शतं वद मा लिख।' लेखन सत्यनिष्ठ होने के कारण कालजयी भी हो सकता है, पर मौखिक वक्तव्य को कालजयी होने के लिए लेखन का ही रूप धारण करना पड़ता है। लिखने में एक मर्यादित सीमा हमेशा रहती है, इसलिए जहाँ लिखना अच्छा नहीं लगता, उसे बोल देते हैं, जिसका कोई स्थायी प्रभाव भी नहीं होता यदि इसके पीछे विशेष मंशा या साजिश न हो तो। फिर धर्म के बारे में हम क्या लिखेंगे? इसके बारे में इतना कुछ लिखा गया है कि उन्हें पढ़ना तो दूर, सबका नोटिस मात्र लेना भी दुरूह है और यह सब पढ़कर के धर्म को समझ ही जाएँ, यह आवश्यक नहीं है। पुस्तकालयों से लेकर धर्मग्रंथों और धर्माचारियों की बातों की बजाय स्वयं धर्म को हम कैसा जानते महसूस और आचरित करते हैं, इसी पर इस अंक का ढाँचा खड़ा किया गया है, औरों के अनुभवों को भी समाहित किया गया है।

महात्मा गांधी ने जिंदगी की प्रत्येक साँस में इसे अमल में लाने वाली चीज कहा है, तो बिनोवा ने धर्म को सत्ता के सदैव विपरीत माना है। डॉ. राधाकृष्णन ने सभ्यता के आंतरिक पक्ष के रूप में इसे स्वीकारा है तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे भीतर की वस्तु मानते हुए व्यक्ति के अंतराल में इसे खोजने की बात कही है। डॉ. अम्बेडकर ने धर्म का ईश्वर की बजाय नैतिकता से अभिन्न संबंध माना है। यद्यपि इन कथनों के बीज-सूत्र बहुत पहले से भी उपस्थित हैं, यथा महाभारत में कहा गया है कि 'आचारश्च सतां धर्मः' अर्थात् शुभाचार से धर्म की सिद्धि होती है और ऐसे ही 'आचारो प्रथमो धर्मः।' और यह भी कि चरित्र से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। मनु महाराज तो कहते हैं कि मनुष्य को ऐसे अर्थ और काम का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए जो धर्म से विलग हो, 'परित्ज्येदर्थकामौ यौ स्यातां धर्म वर्जिताम्।' दूसरी ओर गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सख्त हिदायत दी है- 'यदि तुम इस धर्म युद्ध को नहीं करोगे तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होओगे'-

अर्थ चेत्त्वमिमं धर्म्मं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।

परंतु प्रश्न शोचनीय है कि धर्म और धर्म युद्ध क्या है? क्या युद्ध भी धर्म युद्ध हो सकता है- यह प्रश्न 'कुरुक्षेत्र' में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भी उठाया है। स्वयं जिस धर्म युद्ध की बात श्रीकृष्ण कह रहे हैं, उसके दूसरे पक्ष अधर्म का सर्वोच्च प्रतिनिधि दुर्योधन का यह कथन ध्यान देने योग्य है, 'हे कंस-दास के बेटे कृष्ण, मुझे गदा-युद्ध में अधर्म से ही मारा गया है। तुमने ही भीम को मेरी जाँघ तोड़ने के लिए उकसाया। युद्ध करते हुए सैकड़ों-हजारों राजाओं को अधर्म से मरवा डाला। तुमने शिखण्डी को आगे करके पितामह भीष्म को मृत्यु-शैया पर सुला दिया। अश्वत्थामा नामक हाथी को मारकर द्रोण पुत्र अश्वत्थामा के मरने की अफवाह फैलाकर गुरु द्रोण से हथियार रखवा लिए। समाधिस्थ आचार्य को धृष्टद्युम्न ने मार दिया। छिन्नबाहु भूरिश्रवा को तुम्हारे ही इशारे पर दुरात्मा सात्यकि ने मारा। महाबली कर्ण को दल-दल में फँसे अपने रथ का पहिया निकालते समय तुमने अर्जुन को उकसा कर कर्ण को धराशायी करा दिया। यदि तुम

लोग वास्तव में धर्म-युद्ध करते तो तुम्हारी विजय होती ही नहीं।' कितनी सत्यता है, दुर्योधन की इस वाणी में? इसलिए धर्म को धारण करना तो बहुत दूर, उसे सही रूप में समझ लेना ही मुश्किल है।

धर्म को लेकर जितना दिग्भ्रम है, शायद किसी अन्य विषय को लेकर उतना नहीं है। ग्रंथों-शास्त्रों में इसके बारे में बहुत कुछ कहा गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिस विषय पर बहुत लिखते-बोलते हैं, परिभाषाएँ-आलोचनाएँ करते हैं, उसका स्वरूप स्पष्ट होने की बजाय अधिक जटिल और दिग्भ्रमित करने वाला हो जाता है। खासकर आधुनिक बुद्धिजीवियों के ऐसे कार्य , बहस, तर्क वितर्क, वाद-विवाद आदि अनेक बार विषय के मूल रूप को इतना तोड़-मरोड़ देते हैं, जिससे उसे पहचानना तक कठिन होता है कि उसका मूल स्वरूप क्या है? बहस में अभिरुचि और निष्णातता के बल पर प्रतिकूल स्थापनाएँ भी सामने आती हैं, उसके प्रचार-प्रसार में सत्तातंत्र का विचित्र योगदान होता है और यह भी सच है कि यदि किसी कार्य को न करना हो या लटकाये रखना हो तो उसे वाद-प्रतिवाद और बहस का विषय बना दिया जाए। बहस व्यवहार की अपेक्षा बातूनी दक्षता को बढ़ावा देती है, 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' की अवधारणा को साकार करती है।

> **जो आत्मा की सत्ता को मानते हैं और जो नहीं मानते हैं; जो ईश्वर को मानते हैं और जो नहीं मानते हैं; इसी प्रकार जो अस्तिक आस्थावान और नास्तिक अनास्थावान हैं दोनों का ही अपने-अपने विचारों को मानने का आधार अपना अनुभव व अनुभूति नहीं है। या तो प्रचलित परिपाटी या फिर स्वार्थ की आपूर्ति के हाँ-ना की संभावना स्वीकारने अस्वीकारने का आधार है। इसलिए ऐसा मानना और न मानना दोनों किसी काम का नहीं, क्योंकि इस मानने, न मानने का कोई अनुभूत आधार नहीं है।**

धर्म के संदर्भ में जो बहस है, वह तो कई बार कट्टरता, नासमझी और अंधविश्वास से युक्त होने के कारण विशुद्ध बहस भी नहीं ठहरती। फिर उसमें मतवादों, संप्रदायों, जातियों, क्षेत्रों, कार्य-रूपों, व्यवहारों की जो अनगिनत पद्धतियाँ प्रचलित हैं, वह धर्म के स्वरूप को विचलित रखती हैं, उस धर्म के, जिसके लिए हम मरने-मिटने को तैयार तो रहते हैं, पर उसे समझते नहीं है। यह समस्या केवल आज की नहीं है, बल्कि सालों की है। महर्षि वेद व्यास ने इसका उल्लेख 'महाभारत' में किया है। कुछ क्षेपक प्रसंगों को छोड़ कर धर्म के प्रतीक माने गए धर्मराज युधिष्ठिर संजय को धर्म अधर्म के बारे में बताते हुए कहते हैं, 'यत्राधर्मो धर्मरूपाणि धत्ते।' अर्थात् कहीं अधर्म ही धर्म का आकार ग्रहण कर लेता है और कहीं पूरा धर्म अधर्म जैसा दिखाई देता है और कई बार धर्म अपने वास्तविक स्वरूप में रहता है। ऐसे में इसके ठीक रूप का पता पाना छोटे-मोटों के लिए ही नहीं, बड़े-बड़े चिंतकों-विद्वानों के लिए भी कठिन होता है। धर्म के इसी प्रकार के परस्पर विरोधी अनेकरूप विश्व के कोने-कोने में मिल जाएँगे, जिनमें से हरएक अनेक से कटुता की हद तक विच्छिन्न भी है। धर्म के नाम पर ही जो विकृतियाँ, कुसंस्कार, कुप्रथाएँ, अमानवीयता, दुराचार जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ धर्म का झंडा उठाने वालों से लेकर उन्हें फंड मुहैया करानेवालों तक ने फैला रखी है और इसका जैसा घृणित, विधर्मी रूप समाज को दिखाया है, वह घनघोर आधार्मिकता है। अधर्म के जो लक्षण सभी युगों विशेषकर कलियुग के लिए शास्त्रकारों ने बताए थे, उनसे कई गुणा यह समाज आगे निकल चुका है, जिनकी कल्पना भी उन्हें नहीं थी। इस तरह धर्म का प्रायोजित रूप समाज में प्रदर्शित कराने और स्थापित करने का काम कोई साधारण आदमी नहीं, वरन् बड़े-बड़े धनकुबेर, राजनीतिक शक्तिसंपन्न और अन्य किसी रूप में सत्तासीन लोग करते हैं, अन्यथा किसी की क्या मजाल कि धर्म के साथ ऐसा सलूक करे कि अधर्म भी लज्जित हो जाए और मजे की बात है कि इसी को साफ-सुथरा जामा पहनाने और स्थायित्व प्रदान करने का काम हमारे संवेदनशील चिंतक, विचारक और किन्हीं रूपों में समाज के अग्रणी लोग किया करते हैं। फिर ये 'महाजन' लोग जिधर जाते हैं, साधारण लोग उसे 'सही मार्ग' मानकर उस पर चलते हैं। यह चिंताजनक स्थिति है, पर यथार्थ है। धर्म के परिवर्तनशील एवं विकासशील स्वरूप को स्थिर करना आसान नहीं। जब स्वरूप ही निश्चित नहीं है तो उस पर चलना, उसे धारण करना कहाँ सहज होगा! इसलिए युधिष्ठिर ने संजय को यह भी बताया कि जो वास्तव में प्रज्ञावान-बुद्धिमान हैं, वे अपनी प्रज्ञा से सोच समझकर धर्म के असली रूप को देख लेते हैं, उसे समझ लेते हैं और यही बात धर्म के संदर्भ में कही गई सारी बातों में महत्त्वपूर्ण है।

धर्म को लेकर विश्व समाज के अनेक लोगों और कुछ वर्गों को स्वाभाविक चिढ़ भी रही है। इनमें वे सारे लोग शामिल रहे हैं, जिनकी प्रताड़ना धर्म के नाम पर की गई है, इसलिए उन्हें यह धर्म घोर अधर्म जैसा लगता है। चिढ़ तो उन्हें भी है जो धर्म के चाहे वास्तविक सौन्दर्य को न देख पाते हों, पर 'धर्म' की छत्रछाया में पनपते रहे भयंकर विधर्म को जानते और पहचानते

रहे हैं। धर्म से संबंधित अक्सर सवालों की बौछारें होती रहती हैं, जिन्हें आधुनिक बुद्धिजीवियों ने उठाए हैं। पहले भी सवाल उठते रहे हैं और ऐसों को एक बड़ा धार्मिक वर्ग(?) विधर्मी (?) भी सिद्ध करता रहा है। प्रश्नकर्ता भी पूछते रहे हैं कि धर्म, धर्मग्रंथ और तथाकथित ये धर्मालम्बी हमारी नैसर्गिक व प्राकृतिक भावनाओं पर कुठाराघात क्यों करते रहे हैं और कर रहे हैं? इनके 'धर्म' में हमारे प्राकृतिक अधिकारों व सम्मान के लिए जगह क्यों नहीं है, अथवा हमारे मानवीय अधिकारों के उल्लंघन को क्यों धर्म बताया गया है? ऐसे प्रश्न बाहर से भी पढ़ने-सुनने को मिलते हैं और स्वयं अपने मन में भी उठते हैं और फिर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि आखिर धर्म क्या है? आखिर जो वे कह रहे हैं, वही धर्म है अथवा कुछ और है?

सोचने-पढ़ने से नहीं, बल्कि जीवन की सहज धारा में चलते हुए दोषों की मिलावट तो रहती है, पर ऐसी कमजोरी तथा दोष समय के साथ स्वतः तिरोहित होते जाते हैं और स्वयं एक मार्ग बन जाता है, जिस पर चलना ही धर्म लगता है। यह किसी ग्रंथ-व्यक्ति ने नहीं बनाया है, स्वतःस्फूर्त मार्ग है। यह किसी छोटे-बड़े क्षेत्रीय दायरे से संबंधित नहीं है, यह जाति-संप्रदाय से भी जुड़ा हुआ नहीं है, यद्यपि इनके संस्कार जरूर मौजूद रहे हैं और अंततः यही समझ में आता है कि जो आत्मा को आनंद दे, वह धर्म है, बशर्ते आत्मा का बोध हो और वह जगी हुई हो तब। स्वार्थ को, मन को यहाँ तक कि हृदय को कचोटने वाली बात भी अधर्म हो सकती है, पर आत्मा को कचोटने वाली बात कदापि धर्म नहीं हो सकती। इसलिए चाहे कोई बहुत बड़ा धर्माचारी, धनपति, शहंशाह-राजनेता या धर्मग्रंथ भी यदि हमारी आत्मा को जड़ बनाते हैं, आत्मिक चेतना को कुंठित कर कुचलने का काम करते हैं, तो यह निश्चित रूप से धर्म के प्रतिकूल बात ही है।

धर्म की महत्ता आत्मिक बोध के लिए है। जहाँ तक स्वार्थ का सवाल है, वह एक स्त्री का अलग हो सकता है, एक पुरुष का अलग; एक मुसलमान का अलग हो सकता है, ईसाई-सिख का अलग; एक दलित का अलग हो सकता है और ब्राह्मण का अलग; पर 'आत्मा' और उसकी अनुभूति सबकी एक जैसी ही होती है। पर उसका बोध किसे है, न इधर वाले को, न उधरवाले को। एक की आत्मा को कुंठित कर यदि दूसरे को सुख मिलता है तो वह सुख सच्चा नहीं है, वह प्रचलित और बनावटी छवि की तुष्टि और आपूर्ति का ही सुख है। इसलिए समाज में जो धर्म का विकृत रूप है, वह आत्मबोध न होने के कारण है, आत्मा की सत्ता से साक्षात्कार न करने के कारण है। जो आत्मा की सत्ता को मानते हैं और जो नहीं मानते हैं; जो ईश्वर को मानते हैं और जो नहीं मानते हैं; इसी प्रकार जो आस्तिक आस्थावान और नास्तिक अनास्थावान हैं, दोनों का ही अपने-अपने विचारों को मानने का आधार अपना अनुभव व अनुभूति नहीं है। या तो प्रचलित परिपाटी या फिर स्वार्थ की आपूर्ति के हाँ-ना की संभावना स्वीकारने अस्वीकारने का आधार है। इसलिए ऐसा मानना और न मानना दोनों किसी काम का नहीं, क्योंकि इस मानने, न मानने का कोई अनुभूत आधार नहीं है। जो नहीं मानते, ऐसा नहीं कि कोई बहुत खोजने का काम किया हो और तब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हों कि आत्मा-परमात्मा नाम की चीज नहीं है, यह कपोल कल्पना है; और जो मानते हैं, वे भी नितांत जड़वत और यंत्रवत ही मानते हैं। वे आत्मबोध से इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे हैं। दोनों की अपनी मान्यता अज्ञानता वाले विश्वास पर ही टिकी है।

जो आत्मबोध वाला व्यक्ति होता है, जब उसकी आत्मिक उपलब्धि पर ठेस पहुँचायी जाती है तो वह विरोध की हद तक जाता है। जो सत्ताधारी व धन्नासेठ उसकी आत्मिक सत्ता को मिटाना चाहते हैं, उनसे उसका अनादि-अनंत अनवरत संघर्ष चलता रहता है। उसके लिए मानवीय आत्मा का धर्म ही असली धर्म होता है, वही उसका अपना धर्म होता है 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' वह अपने इसी धर्म में रहते हुए मर जाता है, पर 'दूसरे तरह के धर्म' में जाकर सफलता प्राप्त नहीं करता। उसके लिए स्वधर्म न जाति-वर्ण का, जाति-वर्ण के लिए होता है और न क्षेत्र का और न संप्रदाय का और न पवित्र धर्म ग्रंथ वाला होता है, वह तो 'सर्वशास्त्र प्रयोजन आत्मदर्शनम्' यानी सभी शास्त्रों का प्रयोजन आत्मदर्शन ही है। ऐसा व्यक्ति स्वार्थों के वशीभूत होकर कभी धर्माचरण नहीं करता है। महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदी से भी यही कहते हैं कि फल की इच्छा रखकर मैं धर्म के मार्ग पर नहीं चलता हूँ। धर्म के नाम पर जो लोग सौदेबाजी करते हैं, वे वस्तुतः नीच प्रवृत्ति के लोग हैं, दुर्भाग्य या प्रायोजित प्रचार-प्रसार से आज धर्म का सारा कर्म ही कामनायुक्त हो गया है। छोटी-छोटी प्रार्थना, आरती से लेकर बड़ी व्रत-कथाओं में या माँग की स्तुति है या फिर फलां करने से फलां के मिलने की संभावना दिखाई गई है। धर्म से ईश्वर भक्ति अभिन्न रूप से जुड़ी रही है और इसमें कामना बलवती हो जाती है, फलतः धर्म भी सकाम हो जाता है जबकि धर्म का सकाम होना एक बहुत बड़ी विद्रूपता है। जब कर्म जो धर्म का निचला पायदान है, इसी के लिए निष्काम होना सर्वोचित बताया गया है, तो फिर धर्म को तो निष्काम होना ही चाहिए। पर इस निष्काम धर्म के दर्शन तो विचक्षण को ही हो सकते हैं। विचक्षण वह है जो किसी बनी-बनाई दृष्टि से नहीं, स्वयं की गहरी एवं सूक्ष्म दृष्टि से देख सके, 'न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्यात् विचक्षणः।' यही मार्ग बुद्ध, महावीर, तुलसी, कबीर का था और यही रैदास और रसखान का भी, जिन्होंने भक्ति के माध्यम से धर्म के प्रवाह को सुदिशा दी। समय-समय पर यह कार्य अनेक महापुरुष करते रहे हैं। इसके लिए धर्मांतरण करने की जरूरत नहीं, क्योंकि ऐसे लोग जहाँ भी रहेंगे, धर्मानुकूल ही रहेंगे। जो लोग लोभवश,

मजबूरी से या भय-आतंक से 'धर्मान्तरण' करते हैं, उनका प्रायः न पहले आचरण धर्मानुकूल रहा होता है और न बाद में। धर्मान्तरण के बाद धर्म का वास्तविक लाभ न उन्हें होता है और उनका लाभ धर्म को। ये जहाँ भी होते हैं, सांप्रदायिक संख्या वाली गिनती ही अधिक बढ़ाते हैं। धर्म का मर्म इनकी जिंदगी से दूर-दूर ही रहता है, बाहरी कार्यकलापों खासकर कर्मकांडों में अंतर जरूर हो जाता है। वस्तुतः धर्म जीवन के सभी अंगों का सुसंयोजित कार्यविधान है, जिसे एक झटके से कैसे बदला जा सकता है? समाज के विभिन्न दबाव-समूहों यथा सत्ता के मठाधीशों-महंतों, बड़े पदधारकों एवं धर्म को व्यापारिक रूप देने वाले वणिकवृत्ति वालों का एक बहुत बड़ा वर्ग 'अधर्म' को 'धर्म' बनाने के लिए लंबे समय से कटिबद्ध दिखता है, जिसकी चपेट में आकार अधिकांश निरीह जनता मूल रूप से 'अधर्म' को ही धर्म के रूप में अपनाकर अपना उत्थान, स्वर्ग एवं मोक्ष का मार्ग प्रशस्त देख रही है। धर्म का यह बाजार धोखा है जहाँ अधर्म को धर्म कहकर-बताकर बेचा जा रहा है, अतः इससे सावधान रहने की आवश्यकता है और पुनः अपनी आत्मिक चेतना को जागृत करने की। कबीर के शब्दों में यही मार्ग सर्वोत्तम है-

राह बिचारी क्या करै, पंथि न चलै विचार।
अपना मारग छाँड़ि कै, फिरै उजार-उजार।।

कविवर हरिवंश राय 'बच्चन' के इस भाव को ग्रहण करने की भी आवश्यकता है-

धर्मग्रंथ सब जला चुकी है
जिसके अंतर की ज्वाला
मंदिर, मस्जिद, गिरजे, सबको
तोड़ चुका जो मतवाला।
पंडित, मोमिन, पादरियों के
फंदे को जो काट चुका
कर सकती है आज उसी का
स्वागत मेरी मधुशाला। ☆

संसदीय लोकतंत्र के साठ साल

भारत में संसदीय लोकतंत्र के साठ साल गुजर गए। साठ साल पर षष्टिपूर्ति हुई है। साठ साल की आयु भारत में अधिकतर नौकरियों से सेवानिवृत्ति की भी आयु है, दूसरी ओर लोक कहावत है कि 'साठा, तब पाठा।' अर्थात् साठ की उम्र में ही व्यक्ति परिपक्वता की जवानी प्राप्त करता है। फिर भी किसी देश और उसकी सर्वोच्च संस्था के लिए साठ वर्ष अधिक नहीं होते और उस देश के लिए तो कतई नहीं, जिसका अतीत हजारों, लाखों साल पुराना है। आधुनिक युग में भी सैकड़ों साल तक जिसे दासता का दमन झेलना पड़ा है। अकेले ब्रिटिश हुकूमत ने लगभग दो सौ साल तक इस पर शासन किया। आज यह सोचकर भी मन में विक्षोभ उत्पन्न होता है कि शास्त्र और शस्त्र में पारंगत तथा आबादी में भी किसी से कम न होने की मजबूत ताकत के बावजूद गुलामी की लंबी यातना क्यों झेलनी पड़ी? हम चाहे अपने इतिहास और अतीत का जितना गुण गाएँ, पर जो सैकड़ों वर्षों की एकछत्र गुलामी के काले अध्याय वाला धब्बा है, वह अमिट है। यह खोजना निरापद नहीं है कि अतीत में कौन-सा ऐसा बीज-सूत्र था, जिसके कारण ऐसा हुआ। आज के उपस्थित सूत्रों को देखकर पीछे के काले अध्यायों के बीजों को समझ सकते हैं। यद्यपि देशी-विदेशी विद्वानों ने बहुतायत में इन कारणों की जाँच-पड़ताल और मूल्यांकन-विश्लेषण किया है, तथापि 'भारतीय मानस' के उस बीज-बिन्दु का साक्षात्कार बाकी है जो अप्रत्यक्ष रूप से अपनी विद्यमानता रखते हुए ऐसे संकटों को आमंत्रित करता रहा। जहाँ इतिहास इस बिन्दु पर मौन हो, वहाँ वर्तमान के मानस को समझकर इसी दृष्टि से अतीत के अन्तर्मानस तक पहुँचा जा सकता है, क्योंकि कोई घटना अकारण नहीं होती और इतनी बड़ी घटना तो बिल्कुल नहीं। ऐसी घटनाओं के पीछे प्रत्यक्ष रूप से राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक कारण तो हुआ ही करते हैं, अदृश्य भावनात्मक-विचारात्मक कारण भी होते हैं। यद्यपि बाह्य परिस्थितियों से अन्तर्चेतना का निर्माण होता है, तथापि अन्तर्चेतना से बाह्य वातावरण भी बनता है। कहने का मतलब कि एक संकट मानसिकता का भी है, जो कई बार इतना प्रबल होता है कि उल्टी-सीधी, अलग-अलग परिस्थितियों में भी परिणाम-प्रभाव एक या एक जैसा निर्मित करता है। भारत और आस्ट्रेलिया के बीच होते रहे क्रिकेट मैचों में भारतीय टीम की क्षमता, स्थिति, रिकार्ड और प्रदर्शन को देखकर इस मानसिकता का आकलन किया जा सकता है। टीमों का प्रदर्शन उनकी मानसिकता को भी इंगित करता है अथवा मानसिकता से प्रदर्शन का अच्छा-बुरा आधार तैयार होता है।

खैर! हम यहाँ बात स्वतंत्र भारत के संसदीय लोकतंत्र के साठ साल की कर रहे हैं। लोकतंत्र के साथ संसदीय न भी जुड़ा हो, तो भी केवल लोकतंत्र ही आधुनिक परिदृश्य में इतना आकर्षण भरा तंत्र है कि किसी के लिए इसका विरोध संभव नहीं। उनके लिए भी नहीं जो लोकतंत्र की बुनियादी मान्यताओं के ठीक विपरीत कार्य करते हैं। इस लोकतंत्र में इतनी लुभावनी शक्ति है कि भारी अलोकतांत्रिक और अमानवीय कार्यों के निष्पादन के बावजूद यह टिका रहता है, घोर अलोकतांत्रिक आचरण करने वाला भी लोकतंत्र का सीधा विरोध नहीं कर सकता। लोकतंत्र की स्थापना राजतंत्र के विरोध की नींव पर हुई थी। आदर्श राजतंत्र में लोक की अच्छी भूमिका की परंपरा भी रही है और लोकतंत्र के भीतर राजशाही, तानाशाही, निरंकुशता और वंश परम्परा के आधार पर उत्तराधिकारी तय करने जैसी राजतंत्रीय कही-माने जाने वाली बातें व कार्य चलते रहे हैं। फिर भी माना गया है कि लोकतंत्र में लोक की चिन्ता ज्यादा होती

है अथवा लोक ही अपनी चिन्ता करता है। जिन मान्यताओं के विरोध की बुनियाद पर लोकतंत्र की स्थापना हुई है, वे ही अपने बदले रूप में लोकतंत्र की भी बीमारी बन चुकी हैं।

किसी भी सजीव-निर्जीव में क्षणिक और लेशमात्र भी प्रगति या ह्रास न भी हो, तब भी यदि उसका वजूद बरकरार है, तो उसकी आयु बढ़ती है। वस्तु या व्यक्ति नष्ट या मरता नहीं तो फिर उसकी आयु तो बढ़ती ही है, आखिर लोग आईसीयू, कॉमा या बिस्तर पर मजबूरी में पड़े-पड़े दस-बीस साल काट लेते हैं। इन सालों में 'होने' का उन्हें आभास भी नहीं होता, फिर भी उनकी उम्र तो बढ़ती ही जाती है। उम्र ही एक ऐसी चीज है जो कुछ करें ना करें, यदि जिन्दा हैं तो बढ़ती है। समय का प्रवाह ही अप्रतिहत और अक्षुण्ण है, इसलिए उम्र का बढ़ना कोई गर्व का कारण नहीं, हालाँकि जीना भी एक चुनौती है। इसी प्रकार लोकतांत्रिक मान्यताओं के व्यापक हनन के बावजूद 'लोकतंत्र' का टिका रहना भी एक बड़ी उपलब्धि है। दुनिया के बहुत सारे देशों ने लोकतंत्र को तानाशाही में परिवर्तित होते देखा है, कहीं फौजी हुकूमत तो कहीं पारिवारिक उत्तरदायित्व वाली वंश-परंपरा का पोषण और उन्हें ध्वस्त होते भी देखा है। भारतीय लोकतंत्र ने भी इस दरम्यान कई संकटों का सामना किया है और स्वाभाविक रूप से अनेक उपलब्धियाँ भी दर्ज की हैं।

आरोप-प्रत्यारोप के समय को छोड़ दिया जाए, तो साधारणतः संसद में ऊर्जस्विता दिखाई नहीं देती, जो देश और दुनिया को दिशा-दृष्टि देने के लिए अपेक्षित है। इन सारे कारणों से विधायिका कमजोर हुई है। इसे बौना साबित करने में सरकार का भी अहं योग है, इसलिए कार्यपालिका व विधायिका के कार्यों में न्यायालय का हस्तक्षेप बढ़ा है। सांसदों के साथ भी कभी सत्ताधारी दल, तो कभी प्रशासन और कभी अपराधी तत्त्व अशोभनीय व्यवहार करते हैं, जिससे न केवल सांसद, विधायक, अपितु संसद और विधानमंडलों की साख-गरिमा नष्ट होती है।

तत्कालीन प्रधानमंत्री पीवी नरसिम्हाराव अमेरिका गए थे, तो उनके समकालीन बिल क्लिंटन ने उन्हें दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र का प्रधानमंत्री बताया था। लेकिन दूसरे क्या सोचते हैं, इससे पहले हम अपने लोकतंत्र के बारे में क्या मानते हैं, इस पर दृष्टि डालनी जरूरी है। वैसे हम लोग बाहर के पुरस्कारों एवं प्रमाण-पत्रों के इतने कायल हैं कि अपने बारे में कुछ भी सोचते हों, पर 'टाइम' जैसी पत्रिका में यदि अपने बारे में कुछ छप जाए तो उसे एक पुख्ता प्रमाण-पत्र की तरह ही ग्रहण करते हैं। बात पत्रिका की विश्वसनीयता की नहीं है, बल्कि स्वयं के कार्य, उसके मूल्यांकन और आत्म-प्रमाण की है, जब 'आत्म' ही स्वीकृति के लिए बाह्य का मुहताज हो जाए तो फिर आत्म कहाँ, तिस पर भी जब हम अपनी दुहाई देते नहीं थकते और हर बुराई के लिए पश्चिम को कोसते हुए नाक-भौं सिकोड़ते हैं। हर मोर्चे पर अपनी विफलता के लिए उन्हें दोषी ठहराने और साथ ही उनके प्रमाण-पत्र पर गौरवान्वित आह्लादित होना साथ-साथ चलता रहता है।

जो कुछ भी हो, भारतीय लोकतंत्र ने बखूबी साठ साल पूरे किए हैं और इस अवसर पर हीरक जयंती समारोह मनाया गया है। सभी दलों के नेताओं-सांसदों एवं राष्ट्रपति महोदया ने संसद को लोकतंत्र का मंदिर बताते हुए इसकी पवित्रता अक्षुण्ण रखने का संकल्प व्यक्त किया है। स्वाभाविक है कि इस अवसर पर हम पिछले साठ साल की संसदीय यात्रा का आत्म-मूल्यांकन करें। इन सालों की न तो उपलब्धियाँ कम हैं और न चिन्ताएँ-समस्याएँ हीं। उपलब्धियों का लाभ उठाया जा रहा है और समस्याओं-संकटों से रोजाना दो-चार होना पड़ता है। बढ़ती असमानता, गरीबी, भ्रष्टाचार एवं गैरजिम्मेवारी, महँगाई, बेरोजगारी जैसी समस्याओं ने आम आदमी का जीना मुहाल कर रखा है और इस धरातल पर लोकतंत्र में शासकों-प्रशासकों का जो दायित्व होना चाहिए, उसका उल्लंघन दिखता है। इसका मूल्यांकन भी कई आधारों पर हो सकता है, एक संस्थागत ढाँचों की बनावट के विकास के आधार पर और दूसरा आम आदमी को दृष्टिगत रखकर। लोकतंत्र और उसके विभिन्न अवयवों कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका आदि का विकास भी हुआ है और अवमूल्यन भी।

हीरक जयन्ती समारोह में जब नेता-सांसदों ने संसद को पवित्र रखने का संकल्प दर्शाया तो कहीं न कहीं उस संस्था के प्रति ही उनका यह सम्मान था, जिसने उन्हें इस काबिल बनाया है कि लोग उनकी बात सुनते हैं। संसद वास्तव में अपनी गरिमा के साथ पवित्र और दायित्वों को निभाते रहे, तो इससे सांसदों की प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। आखिर जिस मंदिर के वे पुजारी हैं, उसकी देखरेख, भव्यता और विश्वसनीयता जितनी होगी, उतना ही पुजारी का भी गौरव बढ़ेगा। मंदिर की गरिमा पुजारी के किए पर भी निर्भर करती है, इसी प्रकार सांसदों के व्यक्तित्व, विचार और कार्यों से संसद और लोकतंत्र का भाव घटता-बढ़ता है। निश्चित रूप से संसद के सदस्य होने के नाते उनके विशेषाधिकार और कर्तव्य हैं, जिसकी जितनी अधिक रक्षा होगी, उतना ही लोकतंत्र

का मान बढ़ेगा, जनता का विश्वास बढ़ेगा। अमूमन सभी दल के नेताओं ने माना है कि समय के साथ-साथ अच्छे अनुभवों का इजाफा कम हुआ है, गरिमा में गिरावट ही अधिक आई है। होना तो यह चाहिए था कि समय बीतने के साथ बढ़ते अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में इसका चरित्र निरंतर परिपक्व होता जाता और गरिमा बढ़ती जाती, पर ऐसा न होने में दोष किसका है? किसी एक व्यक्ति, संस्था, दल अथवा उसके अंगों का दोष है? ऐसा नहीं है। यहाँ भी दोष उसी मानसिकता वाले बीज-तत्त्वों में है जो सैकड़ों साल पहले भी था और आज भी है। यह अन्तर्विरोधों, विडम्बनाओं वाला बीज तत्त्व है जो कहीं गरिमा को परिष्कृत-परिमार्जित कर बढ़ाता नहीं, अपितु सदैव जाने-अनजाने गिराने पर तुला रहता है। इसलिए भारतीय संसदीय लोकतंत्र ने जो पिछले साठ सालों में बुरे दिन देखे हैं, उनका भी जिक्र जरूरी है, पर सवाल यह है कि इसकी शुरुआत कहाँ से की जाए।

अभी कुछ दिन पूर्व स्वामी रामदेव जी ने सांसदों में से कुछ को चोर, डकैत, लुटेरा कह दिया था, तो काफी हंगामा हुआ। संसद से बाहर वाले लोग अरविन्द केजरीवाल से लेकर अन्ना हजारे एवं किरण बेदी तक सबने इस तरह की बातें की हैं, जिन पर सांसदों ने विरोध भी किया है। निश्चित रूप से सारे सांसद ऐसे नहीं हैं, पर ऐसे सदस्यों से संसद खाली भी नहीं है, यह भी सत्य है। जनता के हित में या दिखावटी विरोध में पैसे लेकर प्रश्न पूछने वाले भी इस संसद में रहे हैं, एम.पी. क्वार्टरों में अवैध कब्जा और अवैध निर्माण करने वाले भी सांसद रहे हैं और पानी, बिजली, टेलीफोन तथा आवासीय किराया न चुकाने वाले भी, जातिवादी और सांप्रदायिक जहर उगलने वाले भी सांसद रहे हैं और हत्या, बलात्कार, चोरी, अपहरण, कबूतरबाजी आदि करने वाले भी संसद और विधान सभाओं में सदस्य बनते रहे हैं? खाली वंश परम्पराओं के कारण सांसद बनने वाले भी रहे हैं और पैसे लेकर संसद-विधानसभा में मतदान करने वाले भी। संसद-विधानमंडलों में गाली-गलौज से लेकर मार-पीट करने वाले भी रहे हैं और संसदीय कार्यवाही को अबाधित रूप से बाधित करने वाले भी। अध्यक्ष, सभापति और पीठासीन अधिकारियों द्वारा पक्षपात भी देखे गए हैं और दलीय स्वार्थों के प्रति हद तक निष्ठा भी। राज्यसभा जैसे चुनाव में पैसे लेकर बिकने वाले विधायक भी रहे हैं और उन्हें खरीदने वाले भी और दोनों की पोल खोलने वाली रुपयों की पोटली भी यहीं उछाली गई। सदस्यों की अनुपस्थिति में कार्यवाही स्थगित भी होती रहती है और कोरम पूरा करने के लिए जद्दोजहद भी देखी गई है। इसी संसद में भ्रामक जवाब भी मिलते हैं और बेहद बेमतलब के प्रश्न भी उठाए गए हैं। यह सब होते भी संसद या विधानमंडल पवित्र हैं, शायद इसीलिए कि उन्हें पवित्र ही होना चाहिए। यह वह आदर्श है जो विपरीत व विकृत आचरण वाले यथार्थ के प्रहार से भी नहीं टूटता, यह आदर्शों के प्रति गजब का 'लगाव' है। परंतु यह तो गिने-चुने चित्र भर हैं। अगर हम संसद और विधानमंडलों में होने वाली बहसों, दबाव समूहों की भूमिका, दलीय लाइन व निष्ठा, जनहित के मुद्दे, सदस्यों का संसदीय व्यक्तित्व, संकल्पों, नीतियों के कार्यान्वयन को देखें, तो निराशा ही दिखाई देती है। यथा संसद और विधानमंडलों की बहसों में आरोप-प्रत्यारोप तो खूब होता है, नीतियों की आलोचना भी जबर्दस्त होती है, पर वैकल्पिक नीतियाँ अमूमन गायब रहती हैं, जबकि विकल्प का ठोस विचार किसी अच्छे तर्क-वितर्क का आधार होता है। बहस में जनहित के मुद्दे पर शायद ही कोई सांसद अपनी दलीय सीमाओं का अतिक्रमण करता है और अपने विशिष्ट व्यक्तित्व वाले विचार को प्रस्तुत करता है। हाँ, व्यक्तिगत लाभ के चक्कर में अथवा जातिवादी, संप्रदायवादी सोच के अन्तर्गत पार्टी प्रतिबद्धता का जरूर उल्लंघन होता है, फलतः स्वविवेक वाले स्वयं में परिपूर्ण सांसद का व्यक्तित्व संसद में दुर्लभ होता जा रहा है। बड़े नेता पार्टी लाइन तय करते हैं, उसके अनुरूप बोलते हैं; दूसरी, तीसरी, अंतिम पंक्ति के सांसद संख्या बल ही अधिक बढ़ाते हैं, फलतः कर्तव्यनिष्ठ और स्वनिर्भर सांसद की छवि धूमिल होती जा रही है। सारे सांसद इस कसौटी पर खड़े उतरें यह जरूरी नहीं, पर दस-बीस तो ऐसे होने ही चाहिए। जो दल के भीतर के हों या बाहर के, बहस को ऊँचाई गरिमा और निष्पक्षता प्रदान करें। नितांत क्षुद्र स्वार्थों के लिए पार्टी-लाइन से आगे जाने के समय न आलाकमान मजबूत दिखता है और न सांसद का स्वयं का व्यक्तित्व। सत्ताधारी पार्टी के सांसद प्रायः अपनी पार्टी की कैसी भी नीतियों को अनुमोदित करते हैं।

संसद में और विधानमंडलों में कई बार ऐसी अशोभनीय स्थिति उत्पन्न हुई है, जिसे लोकतंत्र की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। जैसे भाषण-वक्तव्य में कुछ और कहना और सदन में ही वोट-व्यवहार अपने ही वक्तव्य के ठीक विपरीत करना और मुख्यमंत्री रहते हुए संसद में मतदान करना। संसद-विधान मंडलों में सोते पाना जाना, अश्लील तस्वीरें देखना और छींटाकशी आदि भी संसदीय लोकतंत्र की पवित्रता पर प्रश्न-चिन्ह हैं। इन सारे कारणों से इनकी प्रतिष्ठा धूमिल हुई है, साख में गिरावट आई है और यह सब करनेवाला कोई और नहीं, बल्कि खुद सांसद, विधायकगण हैं, इसलिए आरोप-प्रत्यारोप के समय को छोड़ दिया जाए, तो साधारणतः संसद में ऊर्जस्विता दिखाई नहीं देती, जो देश और दुनिया को दिशा-दृष्टि देने के लिए अपेक्षित है। इन सारे कारणों से विधायिका कमजोर हुई है। इसे बौना साबित करने में सरकार का भी अहम योग है, इसलिए कार्यपालिका व विधायिका के कार्यों में न्यायालय का हस्तक्षेप बढ़ा है। सांसदों के साथ भी कभी सत्ताधारी दल, तो कभी प्रशासन और कभी अपराधी तत्त्व अशोभनीय व्यवहार करते हैं, जिससे न केवल सांसद, विधायक, अपितु संसद और विधानमंडलों की साख-गरिमा नष्ट होती है।

कुल मिलाकर गरीबी, बेरोजगारी, महँगाई, शिक्षा, रक्षा जैसे मुद्दों पर ही नहीं, बल्कि मानवाधिकारों की चिन्ता, भ्रष्टाचार का खात्मा, जवाबदारी तय करने जैसे मुद्दों पर संसद को और जागरूक होने की आवश्यकता है, साथ ही आम जनता की समस्याओं और सरोकारों के प्रति संवेदनशील होने पर इसकी गरिमा व मर्यादा बढ़ेगी। व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति किसी भी तरह की असंवेदनशीलता और समस्याओं के प्रति बेपरवाही लोकतंत्र को अंदर से खोखला ही करती रहेगी। ☆

तो राष्ट्रपति अब मजबूत हो

जुलाई के अंतिम सप्ताह में भारत की वर्तमान महामहिम राष्ट्रपति प्रतिभा पाटील का कार्यकाल खत्म हो रहा है। इससे पहले ही राष्ट्रपति पद का चुनाव संपन्न होना है, साथ ही उपराष्ट्रपति का भी चुनाव होगा। राष्ट्रपति राष्ट्राध्यक्ष के नाते देश का प्रथम नागरिक तो होता है, पर उसका निर्वाचन प्रत्यक्षतः जनता द्वारा नहीं होता, इसलिए वैसी सरगर्मी नहीं देखी जाती, जैसी आमचुनावों के समय होती है और जैसी जिज्ञासा प्रधानमंत्री पद को लेकर होती है। फिर भी यह देश का संवैधानिक रूप से सर्वोच्च पद है, अतः राजनीतिक दलों, बुद्धिजीवियों और पढ़े-लिखे मध्य वर्ग में इसकी चर्चा तो होती ही है। इस समय केन्द्र में कांग्रेस के नेतृत्व वाली गठबंधन सरकार है, फलतः कांग्रेस की राय और फैसला महत्त्वपूर्ण होगा। चूँकि गठबंधन के दलों के सहयोग के बिना उसके लिए भी राष्ट्रपति बनवाना नामुमकिन है, अतः गठबंधन के भीतर और गठबंधन के बाहर से उसके लिए सहयोग लेना आवश्यक है। अभी कई नाम चर्चा में आए गए हैं, जिनमें स्वाभाविक रूप से प्रबल दावेदार डॉ. हामिद अंसारी तो हैं ही, वरिष्ठ कांग्रेस नेता प्रणव मुखर्जी और राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी के नेता पी.ए. संगमा का नाम भी चर्चित हुआ है। इनके अलावा परम्परागत रूप में चर्चा में रहने वाले नाम डॉ. कर्ण सिंह और पूर्व राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम का भी है। किसी हद तक योग्यता रखने के कारण ही इन दोनों की चर्चा होती है, परंतु डॉ. कर्ण सिंह के नाम पर अनेक दलों को आपत्ति हो सकती है और कलाम पिछली बार जिन कारणों से दुबारा उम्मीदवार नहीं बन सके थे, कमोबेश वे कारण अब भी उसी रूप में मौजूद हैं। इसलिए डॉ. हामिद अंसारी ही इस पद के सशक्त उम्मीदवार बनते दिख रहे हैं। इनका पिछली बार की तरह इस बार भी भाजपा को छोड़कर अन्य दलों के लिए विरोध आसान नहीं होगा। वैसे राजनीति में अंतिम समय तक कुछ भी हो सकता है, जैसे पिछली बार एकाएक श्रीमती प्रतिभा पाटील की उम्मीदवारी तय हो गई, लेकिन तब स्वर्गीय भैरोसिंह शेखावत उपराष्ट्रपति थे और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) सत्ता से बाहर हो चुका था। खैर! कुछ ही दिनों में उम्मीदवारों की सीधी घोषणा हो जाएगी, लुका-छिपी का खेल खत्म होगा।

भारत में सक्रिय राजनीति से सेवानिवृत्ति देने जैसा ही राष्ट्रपति और राज्यपालों का पद है, इसलिए इस पद पर पहुँचने वाले काफी बुजुर्ग होते या होती हैं। शायद इसके पीछे लंबे अनुभव और परिपक्वता की माँग होती है, लेकिन इस उम्र की सबसे बड़ी खामी तो यह होती है कि प्रायः लोगों की 'चेतना' स्थिर हो जाती है, आदमी परिस्थितियों को खुद के अनुरूप ढालने की बजाय समय-परिस्थितियों के अनुरूप खुद ढलने के लिए सहमत हो जाता है। अधिक जोखिम उठाने से डरता है। बुढ़ापा का मनोवैज्ञानिक सच यह भी है कि इस उम्र में मोह-आसक्ति बच्चों जैसी हो जाती है। परंतु विगत दो-तीन दशकों में कई राज्यपालों की सक्रियता दलीय निष्ठाओं को निभाने के कारण निष्पक्ष नहीं रही है।

जो भी हो, सबको इस बात का विचार तो करना ही चाहिए कि मौजूदा समय में राष्ट्रपति कैसा होना चाहिए? बेशक राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति और भूमिका में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, परंतु देश की राजनीति में गठबंधन वाली सरकारों और बदलती क्षेत्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय जरूरतों के मद्देनजर आज उसकी भूमिका कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो गई है। हालाँकि वह संवैधानिक प्रमुख और राष्ट्राध्यक्ष है, फिर भी मंत्रिमंडल की 'सलाह' मानने को बाध्य है, उसे राजनीति विज्ञान की पुस्तकों में रबड़ स्टैंप तक कहा गया है और दशकों से इसे निर्बाध रूप से पढ़ा-पढ़ाया जाता रहा है। राष्ट्रपति को 'रबड़ स्टैंप' कहने-पढ़ने-लिखने पर कभी कोई हंगामा नहीं हुआ, जैसा कि अक्सर बेमतलब की बातों को लेकर हो जाया करता है। पता नहीं, यह अपने राष्ट्राध्यक्ष के प्रति कैसा सम्मान है? दूसरा सलाह, राय हमेशा अधीनस्थ लोगों द्वारा दी जाती है और इसे मानने की बाध्यता नहीं होती, पर हमने अपने संविधान में इस सलाह, राय, परामर्श शब्द को शक्तिशाली और आदेश-निर्देश से भी ऊपर स्थापित कर दिया है। यह शब्दों के साथ खिलवाड़ है, अथवा अपनी डींग मारते-मारते अन्तर्मानस तक गुलाम हो चुके भाव का परिणाम, लेकिन यह ऐसा विरोधाभास है जिसकी मिसाल अपवाद स्वरूप ही है। ऐसा ही विरोधाभास राष्ट्रपति और राज्यपाल के अभिभाषण के साथ होता है। जो अभिभाषण वह संसद-विधानमंडल में पढ़ता है, वह हो सकता है, उसके विवेक, सिद्धांत और कार्य प्रणाली से बिलकुल विपरीत हो, फिर भी उसे पढ़ता है, क्योंकि वह राष्ट्राध्यक्ष अथवा राज्याध्यक्ष जो है। किसी राष्ट्राध्यक्ष की ऐसी मजबूरी भी एक नायाब आश्चर्य है, पर किसी राष्ट्रपति-राज्यपाल ने इसका विरोध नहीं किया, अधिक से अधिक 'बेमन' का अभिभाषण होने के कारण खानापूर्ति का पहला और अंतिम वाक्य पढ़ दिया। इसे पढ़ा हुआ मान लिया जाता है। हाँथी के दाँत दिखाने के और, खाने के और, की मानसिक सोच के कारण ही ऐसा होता है।

राष्ट्रपति राष्ट्राध्यक्ष के साथ तीनों सेनाओं का प्रधान

सेनानायक भी होता है, लेकिन कई बार ऐसा भी देखने में आता है कि इस पद पर पहुँचा हुआ व्यक्ति अपने सेनाधिकारियों और सैनिकों से खड़े होकर सलामी लेना और उसका उसी प्रकार सलामी देकर जवाब नहीं दे पाता। सेना की बाकी गतिविधियों का क्या नेतृत्व करेगा और वह सैनिकों में क्या जोश भरेगा? माना कि वह पदेन ही सेनानायक है, तो क्या उसमें सैनिक के कुछ गुण नहीं होने चाहिए। उपराष्ट्रपति भी तो राज्यसभा का पदेन सभापति ही होता है तो क्या 'पदेन' होने के कारण उसे सभापति के अधिकारों-कर्तव्यों से छूट प्राप्त है?

भारतीय लोकतांत्रिक संविधान में राष्ट्रपति को सर्वोच्च सेनानायक बनाने के पीछे भी लोकतंत्र पर पहरेदारी वाली उसकी सर्वोच्च भूमिका को ही इंगित करना है। इसलिए यह सर्वोच्च सेनानायक ऐसा हो जो अपने व्यक्तित्व, विचार और वक्तव्य एवं कार्य से सेना का कुशल नेतृत्व करते हुए जोश-उत्साह भरने की कूबत रखता हो। या फिर हम उसे सेनानायक रखें नहीं और यदि रखें तो फिर उसके अनुरूप उसका व्यक्तित्व भी होना चाहिए। इसलिए राष्ट्रपति एक बेहद ऊर्जावान व्यक्ति को होना चाहिए। परंतु ऐसा न होने देने का कारण हमारा राजनैतिक नेतृत्व है, वह राष्ट्रपति व राज्यपालों की सक्रिय भूमिका नहीं चाहता। ये महामहिम खुद भी जहाँ सक्रियता दिखानी चाहिए, वहाँ नहीं दिखाते और जहाँ नहीं दिखानी चाहिए, वहाँ अनावश्यक रूप से दिखाते हैं। इसलिए दोष दोनों का ही है। इन पदों को हमने राजशाही और सुविधाभोगी बना दिया है जो लोकतंत्र और आम आदमी की दुरावस्था के साथ घोर मजाक है। यदि इसे सुविधाभोगी और राजसी ठाट-बाट वाला ही रखना है तो इससे अच्छा है कि इन पदों को खत्म कर दिया जाए। वास्तव में ऐसा पद निचले तबके की अंतिम फरियाद का स्थल होना चाहिए। जिसकी बात कहीं सुनी नहीं गई हो, उसे भी यहाँ फरियाद करने का प्लेटफार्म उपलब्ध हो। इसे जनता का हितैषी और उसके हितों का संरक्षक होना चाहिए और जनसमस्याओं के प्रति जागरूक भी। जनता के पक्ष में सरकार को उचित दिशा-निर्देश देने वाला होना चाहिए, परंतु थोड़ी सक्रियता जिन लोगों ने दिखाई तो उन्हें आलोचना झेलनी पड़ी। राजस्थान के राज्यपाल रहते हुए श्री मदनलाल खुराना ने जनता दरबार लगाना शुरू किया तो उन्हीं की 'पार्टी' वाली वसुंधरा राजे की सरकार ने आपत्ति की। पूर्व राष्ट्रपति के. आर. नारायणन के बारे में पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने अपने अनुभवों को साझा करते हुए कहा था कि नारायणन 'क्रियाशील' राष्ट्रपति थे।

वर्तमान समय में राष्ट्रपति पद की गरिमा बढ़ाने की आवश्यकता तो है ही, इसे विरोधाभासों के भीतर रखने की बजाय सही राष्ट्राध्यक्ष के रूप में देखना भी जरूरी है। इसके लिए किसी के अधिकारों में कटौती-बढ़ोतरी की अधिक जरूरत नहीं है। वैसे भी पिछले दो दशकों से अधिकतर सरकारें गठबंधन से बनी हैं, ऐसे में राष्ट्रपति की भूमिका महत्त्वपूर्ण रहती है। गठबंधन सरकारों की मजबूरियाँ होती हैं, प्रधानमंत्री भी कमजोर होता है, ऐसे में बाहरी और आंतरिक खतरे बढ़ने की संभावना अधिक होती है। अस्थिरता पैदा कर उसका लाभ लेनेवाला कई दबाव समूह, जिनमें पूँजीपति, जासूसी एजेन्सी, निरंकुश अधिकारी, आतंकी संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय ताकतें होती हैं। ऐसे में मजबूत राष्ट्रपति की मौजूदगी उनके मंसूबों को ध्वस्त कर सकती है। यह पद विवाद पैदा करने वाला नहीं, अपितु राष्ट्र के भीतर और बाहर विवादों को सुलझाने में अपनी प्रभावी भूमिका निभाने वाला होना चाहिए। जब कमजोर सरकारों का जमाना आया है तो समय की माँग है कि राष्ट्रपति मजबूत हो, ताकि कोई भी राष्ट्र-विरोधी बाहरी-भीतरी शक्ति सरकार की कमजोरी का अनावश्यक फायदा न उठा सके। इसके लिए सीधे अध्यक्षीय शासन प्रणाली तक जाने की फिलहाल जरूरत नहीं है। मौजूदा व्यवस्थाओं के अन्तर्गत भी ऐसा हो सकता है, परंतु मुश्किल यह है कि पिछले पचास-साठ सालों में जिस प्रकार का राजनैतिक चरित्र अपने देश में विकसित हुआ है, उसमें ऐसा मजबूत राष्ट्रपति राष्ट्र-विरोधी शक्तियों को बाद में अपनी मजबूती दिखाएगा, पहले अपनी सरकारों और मातहतों को ही अपनी 'मजबूती' का एहसास दिलाएगा। फिर भी यह वर्तमान समय की जरूरत है कि उच्च नैतिकता संपन्न व्यक्ति यदि इस पद पर पहुँचेगा तो निश्चित रूप से आजादी के बाद से चले आ रहे विरोधाभास खत्म होंगे। ऐसा राष्ट्रपति विश्वव्यापी व्यक्तित्व वाला होगा, जो न केवल देश में, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय मसलों को सुलझाने में अग्रणी भूमिका निभाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय खतरे कम नहीं हैं, अतः कुशल राजनैतिक समझवाला व्यक्तित्व ही इस पद के उपयुक्त होगा। परंतु परम्परागत रूप में जो राजनीतिक संस्कृति विकसित हुई है, उस 'संस्कृति' का व्यक्ति इसे नहीं होना चाहिए। पर वास्तविकता यही है कि ऐसे सांस्कृतिक चरित्र का व्यक्ति ही पदासीन हो पाता है। यह एक तरह का एडजस्टमेंट होता है। सामान्यतः इस पद के उम्मीदवार का निर्णय करते वक्त उसकी वफादारी पहले देखी जाती है, साथ ही उसके ज्यादा 'सक्रिय' न होने और सक्रिय होने की स्थिति में अपने हित की संभावनाओं को तलाशा जाता है और कई बार राजनीतिक मजबूरी के चलते भी उम्मीदवार का फैसला होता है, जहाँ जाति, क्षेत्र और संप्रदाय भी महत्त्वपूर्ण आधार बन जाता है।

कमजोर सरकारों के जमाने में मजबूत राष्ट्रपति राष्ट्रीय अस्मिता के संरक्षण के लिए एक अच्छा उपाय हो सकता है। अध्यक्षीय शासन प्रणाली विकल्प हो या न हो, बाद की यह चर्चा-बहस का विषय हो सकता है। फिलहाल राष्ट्रपति पद को पुर्नपरिभाषित करते हुए इसे सशक्तता और गरिमा प्रदान करने की महती जरूरत है और इसी के अनुरूप सुयोग्य-सक्षम व्यक्ति को इस पद पर बिठाने की भी। ☆